शोध संचयन
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
Vol. 10
Issue 1
15 January, 2019

दिनकर के काव्य में परंपरा और आधुनिकता

बीज शब्द :

रामधारी सिंह दिनकर, परम्परा और आधुनिकता, हिंदी काव्य, राष्ट्रीय काव्य

दिनकर सांस्कृतिक ऊर्जस्विता और आधुनिक युगबोध के कवि हैं। उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति और परंपरा के प्रति एक विशेष आकर्षण दिखायी पड़ता है। दिनकर के युगबोध का ताना-बाना परंपरा को ख़ारिज करके नहीं, बल्कि उसमें संशोधन और उसका परिष्कार करके तैयार हुआ है। उनका काव्य-लेखन छायावादी दौर में शुरू हुआ था, परन्तु उनकी कविता में जनबद्धता कभी भी अनुपस्थित नहीं हुई। उन्हें आधुनिकता की सही अर्थों में पहचान थी। दिनकर भारतीय जनमानस में व्याप्त आद्यबिम्बों, पौराणिक आख्यानों एवं मिथकीय प्रतीकों को नितांत आधुनिक संदर्भों में व्यक्त करने वाले कवि हैं। उनका मानना था कि अतीत का अध्यात्म और वर्तमान का विज्ञान दोनों ही भारत की प्रगति के दो चक्र हैं।

*****

डॉ. अनिल राय
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
श्यामलाल कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E-mail: raidranil14@gmail.com

दिनकर के काव्य में परंपरा और आधुनिकता

दिनकर ने अपने काव्य में प्राचीन कथा-प्रसंगों एवं आख्यानों को पुनर्जीवित कर उन्हें आधुनिक संदर्भों से जोड़ने के कारणों को इस प्रकार सप्ष्ट किया था– 'जब भी अतीत में जाता हूँ/ मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ। पीछे हटकर फेंकता बाण/ जिससे कंपित हो वर्तमान/ खंडहर हो, हो भग्नावशेष/ पर कहीं बचा हो स्नेह शेष/ तो जा उसको ले आता हूँ/निज युग का दीया जलाता हूँ।[1] (मृत्तितिलक) दिनकर को आधुनिकता की सही अर्थों में पहचान थी। उनकी कविता के मूल स्वर दो हैं– राष्ट्रीयता के आह्वान का स्वर और पुरातन का विवेचन-विश्लेषण कर नवीनता के लिए उसके उपयोग का स्वर। निराला, प्रसाद, भवानीप्रसाद मिश्र, अज्ञेय, नरेश मेहता आदि सभी ने अपनी आधुनिक दृष्टि को भारतीय संस्कृति और परंपरा से समृद्ध किया है। आधुनिक होने का अर्थ यह नहीं है कि परंपराओं को पूरी तरह खारिज कर दिया जाए। इनकी जड़ों को काटने के गंभीर खतरे हैं, जिन्हें दिनकर बखूबी जानते हैं – परंपरा को अंधी लाठी से मत पीटो/ उसमें बहुत कुछ है/ जो जीवित है जीवन-दायक है/जैसे भी हो ध्वंश से बचा रखने लायक है/ परंपरा जब लुप्त होती है/ सभ्यता अकेलेपन के दर्द से मरती है/ कलमें लगाना जानते हो तो जरूर लगाओ/ मगर ऐसे कि फलों में/ अपनी मिट्टी का स्वाद रहे।[2](हारे को हरिनाम) जिस परंपरा में बाल्मीकि, कालिदास, कबीर, सूर और तुलसी जैसी विभूतियाँ उत्तरोत्तर विकसित होती आई हैं, वे उसी का नवीन युगानुकूल विकास चाहते हैं। दिनकर अपनी समन्वयात्मक क्षमता से परंपरा को आधुनिकता से और आध्यात्म को विज्ञान से जोड़ने वाले कवि हैं। उनका मानना था कि जो चीज रूस और अमेरिका को नहीं मिली, उसे सारी मानवता की ओर से भारत को प्राप्त करना चाहिए। दिनकर की दृष्टि में विज्ञान और आध्यात्म का सामंजस्य भारत को आधुनिक विश्व में सबसे आगे ले जा सकता है। वे आध्यात्मिक साम्यवाद की भी परिकल्पना करते हैं, जिसे विनोबा भावे 'साम्ययोग' कहा करते थे।

'बारदोली-विजय' दिनकर की पहली रचना है जो 1928 में प्रकाशित हुई थी। दिनकर के साहित्यिक परिचय के साथ इसका उल्लेख अनिवार्यतः किया जाता है। स्वयं दिनकर ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि इस काव्य-संग्रह में सरदार पटेल के नेतृत्व में बारदोली में किसानों के सफल सत्याग्रह के उत्साह में दस गीत लिखे थे। हालांकि विजेंद्रनारायण सिंह के अनुसार 1924-25 में ही जबलपुर से निकलने वाले पत्र 'छात्रा-सहोदर' में उनकी पहली कविता प्रकाशित हो चुकी थी। अपनी कृति 'प्रणभंग' की रचना दिनकर ने 1928 में ही की थी, जो 1929 में प्रकाशित हुई। 'प्रणभंग' लिखने की प्रेरणा कवि ने मैथिलीशरण गुप्त से प्राप्त की थी। 'जयद्रव्य-वध' का प्रभाव 'प्रणभंग' पर साफ दिखाई देता है। इसे पढ़कर आभास हो जाता है कि एक उदीयमान कवि इन छंदों की रचना के साथ भविष्य का महाकवि बनने की तैयारी कर रहा है। प्रणभंग में अपेक्षित परिपक्वता का अभाव है, फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। कविता का प्रसंग महाभारत से लिया गया है, किंतु इस प्राचीन प्रसंग को दिनकर आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत कर एक प्रगतिशील कवि का दायित्त्व निभाते हैं। ब्रिटिश शासन में भारतीयों की अपमानजनक स्थिति दिनकर को उद्वेलित करती है। उनका सारा क्षोभ और आक्रोश अर्जुन और भीम के माध्यम से फूट पड़ता है–

'अपना अनादर देखकर भी/आज हम जीते रहें/चुपचाप कायर से/

गरल के घूँट यदि पीते रहें/ तो वीर जीवन का कहाँ/ रहता हमारा तत्त्व है?/

इससे प्रकट होता यही/ हममें न अब पुरुषार्थ है।[3]

दिनकर जिस ख्याति और लोकप्रियता के अधिकारी थे, वह उन्हें 1935 में रेणुका के प्रकाशन के समय मिली। रेणुका के मंगल-आह्वान में वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यदि उसका आदेश हो तो वह शृंगी के स्वर से सुप्त भुवन के प्राणों में जागृति की लहर दौड़ा दे। उनकी इस गर्जना में यदि अतीत का गौरव है, तो स्वर्णिम भविष्य की आशा-आकांक्षा भी है, जो युग-धर्म बनकर उनके समक्ष फूट पड़ने को आतुर है–

दो आदेश फूँक दूँ शृंगी, उठे प्रभाती राग महान,
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में, जागे सुप्त भुवन के प्राण।
गत विभूति भावी की आशा, ले युग-धर्म पुकार उठे,
सिंहों की घन अंध गुहा में जागृति की हुंकार उठे।
× × × × ×
प्रिय दर्शन इतिहास-कंठ में आज ध्वनित हो काव्य बने,
वर्तमान की चित्रपटी पर, भूतकाल संभाव्य बने।[4]

'रेणुका' की कविताओं में कहीं अपने वर्तमान से क्षुब्ध दिनकर प्रलय की कामना करते हैं, तो कहीं देश के गौरवशाली अतीत से प्रेरणा और ऊर्जा लेकर एक नव-सृजन की ओर बढ़ने को आतुर दिखाई देते हैं। तत्कालीन समाज में व्याप्त आर्थिक वैषम्य ने दिनकर को आवेशित कर रखा था। ब्रिटिशकालीन भारत में

दिनकर ऊँच-नीच के बीच की खाई को प्रलय से नष्ट करने का समाधान ढूँढ़ते हैं-

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो/ लगे आग इस आडंबर में/
वैभव के उच्चाभिमान में/ अहंकार के उच्च शिखर में।[5]

जिस समाज में भूख और अभाव ने मनुष्यत्व तक को निगल लिया हो, उस समाज का कवि नैसर्गिक स्वप्न और कल्पना-लोक में नहीं जा सकता, दिनकर इसे भली भाँति जानते थे। इसीलिए रेणुका में कृषक-मेघों को देखकर उनका भी कृषक-मन रो पड़ता है। वे लिखते हैं-

विद्युत की इस चकाचौंध में/ देख, दीप की लौ रोती है/
अरी हृदय को थाम, महल के/ लिए झोंपड़ी बलि होती है।
धन पिशाच के कृषक-मेघ में/ नाच रही पशुता मतवाली/
आगंतुक पीते जाते हैं/ दीनों के शोणित की प्याली।[6]

'कविता की पुकार' दिनकर के कविता संग्रह 'रेणुका' की सर्वश्रेष्ठ कविता है। इस कविता के माध्यम से दिनकर ने एक बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी है कि वह कविता कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकती, जिसमें कवि यथार्थ को छोड़कर कल्पना-लोक में विचरण करे या अतीत के खंडहरों में बैठकर आँसू बहाए। इस कविता की गिनती दिनकर की भारतीय ग्रामीण जीवन-विषयक श्रेष्ठ कविताओं में होती है। यहाँ कविता स्वयं कहती है-

विद्युत छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण-कुटी-प्रवेश,
तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ वेश।[7]

सदी चाहे अठारहवीं रही हो या उन्नीसवीं, बीसवीं रही हो या इक्कीसवीं, किसानों की समस्या इस देश की सनातन-समस्या बनी हुई है। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद ने जितनी गंभीरता और संवेदनशीलता से इसे उठाया है उतनी गंभीरता अन्य किसी साहित्यकार के यहाँ नहीं है। पिछले दो-तीन दशकों से साहित्यकारों की कलमें दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श पर तो खूब चली हैं किंतु कृषक-विमर्श की प्रतीक्षा साहित्य में अब भी है। दिनकर के काव्य में यह अभाव नहीं है। इसीलिए उनकी कविता ग्रामवासिनी भारतमाता के सुख-दुःख की परछाई बनना चाहती है। किसानों की भुखमरी व लाचारी से अधिक समीचीन विषय उनके लिए शायद कुछ और नहीं हो सकता था। किसान-जीवन का ऐसा अभावग्रस्त अंकन दिनकर की संवेदनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है-

अर्द्धनग्न दम्पति के घर में/ मैं झोंका बन जाऊँगी,
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख/ वे दीपक तुरत बुझाऊँगी।
- - - - - - - - - - - - - - - - - - -
शिशु मचलेंगे दूध देख/ जननी उनको बहकाएगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से/ आँख नहीं रो पाएगी।[8]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन भारत के किसानों की पीड़ा हिंदी साहित्य में भारतेंदु से लेकर निराला तक सभी ने व्यक्त की है, किंतु प्रेमचंद ने जितना लिखा वह अन्यत्र दुर्लभ है। दिनकर को भी किसानों की दुर्दशा देश की दुर्दशा जान पड़ती है। उन्होंने उपनिवेशवाद के भीतर पूँजीपति, महाजन और जमींदार के बीच की शोषक साँठ-गाँठ को स्वयं देखा था। उनकी कविता 'हाहाकार' भारतीय किसानों की गरीबी और भुखमरी का जिंदा दस्तावेज है। खलिहान किसानों की उत्सव-स्थली हुआ करता है, किंतु उपनिवेशवादी शोषण ने वहाँ भी हाहाकार मचा दिया था -

विभव-स्वप्न से दूर भूमि पर/ यह दुखमय संसार कुमारी,
खलिहानों में जहाँ/ मचा करती है हाहाकार कुमारी।[9]

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने दिनकर के विषय में लिखा है- ''दिनकर में साम्राज्यवाद और सामंतवाद की अमानवीयता के विरुद्ध घोर असंतोष और क्षोभ की भावना थी। ......वे एक तरह से अधैर्य के कवि हैं।''[10] दिनकर ने अपने रचना-काल में द्वितीय विश्वयुद्ध की भयंकर विनाशलीला देखी थी, जिसने उनको अंदर तक हिलाकर रख दिया था। युद्ध की विभीषिका ने दिनकर के चिंतन-जगत में एक उद्वेलन पैदा कर दिया। इससे टकराते हुए उन्होंने 'कलिंग-विजय' नाम से एक कविता लिखी जो 'सामधेनी' में प्रकाशित हुई। कलिंग-युद्ध के भीषण नरसंहार को देखकर अशोक के विचलित हृदय के पीछे कहीं न कहीं दिनकर का भी घायल हृदय है, जो अब केवल विश्व में मानव धर्म स्थापित करना चाहता है-

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
पुत्र सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार,
मिट नहीं जाए किसी का चरण-चिन्ह पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग सभीत,
हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म का गूँजे जगत में घोष।[11] (सामधेनी)

'सामधेनी' की इस कविता ने उनके प्रबंध काव्य 'कुरुक्षेत्र' की नींव तैयार की। दिनकर को इस बात का बोध था कि युद्ध की विभीषिका और उसकी त्रासदी पर बहुत कुछ लिखने की गुंजाइश है। हिंसा-अहिंसा, युद्ध-शांति, यथार्थ और आदर्श के जटिल द्वन्द्व वाले उस युग में दिनकर ने इस गंभीर समस्या पर बड़ी गहराई से विचार किया और ऐतिहासिक-पौराणिक कथा-प्रसंगों को आधार बनाकर इसे आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। हालाँकि कुरुक्षेत्र को पूर्णतः द्वितीय विश्वयुद्ध के संदर्भ से जोड़ने

की बजाय ब्रिटिश उपनिवेशवादी शोषण-अन्यायी शासन-व्यवस्था के विरुद्ध भारतीयों द्वारा फूँके गए शंखनाद से जोड़ना और अधिक समीचीन हो सकता है। दिनकर की दृष्टि में किसी का स्वत्व अनीतिपूर्वक छीन लेना ही युद्ध का सबसे बड़ा कारण है। ब्रिटिश साम्राज्य ने भी तो यही किया था-

पर जिनकी अस्थियाँ चबाकर शोणित पीकर तन का,
जीती है यह शांति, दाह समझो कुछ उसके मन का।
स्वत्व माँगने से न मिले, संघात पाप हो जाएँ,
बोलो धर्मराज शोषित ये जिएँ या कि मिट जाएँ।[12]

अन्याय व अधर्म के नाश के लिए युद्ध उचित है। अपने स्वत्व को प्राप्त करने के लिए भी लड़ना आवश्यक है। कुरुक्षेत्र की रचना का उद्देश्य दिनकर ने इसकी भूमिका में स्पष्ट कर दिया है- ''कुरुक्षेत्र की रचना व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दोहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था, किंतु तब यह रचना प्रबंध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती। ....बात यों हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और 'कलिंग-विजय' नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा मानो युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा जो 'विजय' के छोटे से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे।''[13] वस्तुत: कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर और भीष्म आधुनिक कवि दिनकर की शंका और चिंतन के मानवीकृत रूप में व्यक्त हुए हैं। उनका मानना है कि मानव-समाज में वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर अनेक विकृत प्रवृत्तियाँ ज्वाला बनकर धधकती रहती हैं। लोभ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष और क्षोभ जैसी कुप्रवृत्तियाँ ही मनुष्य, समाज और राष्ट्र को युद्ध की आग में झोंक देती हैं। जब तक ये विकृतियाँ सिर उठाती रहेंगी तब तक विश्व में अनिवार्यत: युद्ध का तांडव होता रहेगा -

युद्ध को तुम निंद्य कहते हो मगर,
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ।
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।[14]

'कुरुक्षेत्र' की रचना का ताना-बाना द्वितीय विश्वयुद्ध और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विभीषिकाओं से तैयार हुआ है। विश्वयुद्ध में हुआ भयंकर नरसंहार दिनकर को जहाँ युद्ध के विरोध में खड़ा करता है, वहीं उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था के शोषण व अत्याचार से चीखती-पुकारती जनता की पीड़ा उन्हें शस्त्र उठाने और युद्ध का शंखनाद करने को प्रेरित करती है। युद्ध के समर्थन और विरोध का द्वन्द्व दिनकर इन शब्दों में व्यक्त करते हैं-

सेना साजहीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र धर्म के विरुद्ध है।
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्‌भुत होता,
वणिज के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है।[15]

दिनकर का मानना है कि देश और समाज को युद्ध से बचाने का एक ही उपाय है, पूरी व्यवस्था से शोषण व अन्याय का अंत। जब तक यह अनीतिपूर्ण व अन्यायी व्यवस्था है युद्ध का खतरा हमेशा बना हुआ है-

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो,
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।[16]

'कुरुक्षेत्र' का रचना-काल 1941-1946 के मध्य का है। यह अवधि भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के उस दौर की है, जब गाँधी के सभी अस्त्र-शस्त्र अहिंसा, दया, क्षमा आदि लक्ष्य-प्राप्ति तक नहीं पहुँच पा रहे थे। आंदोलन में रह-रहकर हताशा और निराशा का भाव व्याप्त हो रहा था। दिनकर कांग्रेस के उस धड़े का यहाँ समर्थन करते दिखाई देते हैं, जो अन्यायी शोषक साम्राज्यवाद के ख़िलाफ शक्ति के प्रयोग की बात कर रहा था। उनका साफ कहना था कि मानव को ही मानवता से जीता जा सकता है। जब पाशविकता हथियार लेकर सामने से प्रहार करती है तो मानवीय गुण असहाय हो जाते हैं-

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है,
पाशविकता खड्‌ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।[17]

दिनकर औदात्य के कवि हैं। वे जब भी किसी कविता की रूपरेखा तैयार करने चलते हैं तो उनकी दृष्टि पौराणिक कथा-प्रसंगों की ओर स्वभावत: चली जाती है। 'कुरुक्षेत्र' के अतिरिक्त 'रश्मिरथी' की रचना का कथात्मक आधार महाभारत ही है। दिनकर से पहले अन्य किसी कवि ने कर्ण के चरित्र को इतना उदात्त रूप में नहीं अंकित किया था। 'रश्मिरथी' सनातन काल से चली आ रही जाति-वर्ग-व्यवस्था की अमानवीय स्थापना पर जोरदार प्रहार करती है। जिस समाज में व्यक्ति की पहचान

उसके कर्मों से नहीं होती है, बल्कि जाति और कुल से होती हो, दिनकर को वह समाज स्वीकार्य नहीं है। रश्मिरथी इसी व्यवस्था के प्रतिरोध का काव्य है। 'रश्मिरथी' की भूमिका में दिनकर ने लिखा- ''यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है। ....हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है, कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उस पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं जो उसके माता-पिता या वंश की देन है।[18] सभी मानवीय गुणों से युक्त होने के बावजूद कर्ण उच्चता के पारंपरिक मापदंड की दृष्टि से संपूर्ण नहीं था। दिनकर को कर्ण के प्रति समाज का भेदभाव असह्य लगा, क्योंकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था उसे शिक्षा का अधिकार तक नहीं देती। इस व्यवस्था की क्रूरता परशुराम द्वारा कर्ण से किए गए प्रश्न में स्पष्ट दिखाई देती है-

पापी बोल अभी भी मुख से तू न सूत रथ चालक है,
परशुराम का शिष्य विक्रमी विप्र वंश का बालक है
सूत-वंश में मिला सूर्य सा कैसे तेज प्रबल तुझको?
किसने लाकर दिए, कहाँ से कवच और कुंडल तुझको?[19]

समाज की इस खोखली व्यवस्था पर कुठाराघात दिनकर के लिए जरूरी हो गया था। उन्होंने अपना उद्देश्य 'रश्मिरथी' की भूमिका में स्पष्ट कर दिया था। बड़ा कवि वह होता है जो पारंपरिक मिथकों में अपने युगीन यथार्थ एवं संदर्भों का समावेश कर उसे नवीनता और प्रासंगिकता प्रदान करता है। दिनकर इस कार्य में सिद्धहस्त कवि हैं। रश्मिरथी का कर्ण अविवाहिता कुंती का पुत्र है। सूत वंश में पलने के कारण वह सूतपुत्र कहलाया। निम्न कुल से मिली पहचान में उसकी अपनी कोई भूमिका नहीं है, किंतु आजीवन अपमानित और प्रताड़ित होना उसका प्रारब्ध बन चुका है। उसके अंतर से फूटती पीड़ा केवल उसी की पीड़ा नहीं है, अपितु वह सदियों से शोषित-अपमानित व दलित जातियों की भी व्यथा है, जिनका अपराध मात्र इतना है कि उन्होंने उच्च जाति में जन्म नहीं लिया-

किंतु मनुज क्या करे, जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,
चुनना जाति और कुल अपने बस की तो है बात नहीं।[20]

दिनकर का कर्ण स्वयं समाज की शोषक व्यवस्था के शिकार उन सभी उपेक्षितों-दलितों का आदर्श बनकर उभरने की बात कहता है, जो दिन-रात अपना जीवन इस ऊँच-नीच के भेदभाव की आग में झोंके रहते हैं-

मैं उनका आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा
नीच वंश जन्मा कहकर, जिसको जग धिक्कारेगा।[21]

यहाँ कर्ण स्वयं को केवल निम्न कुल में जन्मे व्यक्तियों का ही आदर्श नहीं घोषित करता है, वह ऊँच-नीच की सीमाओं का अतिक्रमण कर बहुत आगे निकल जाता है और स्वयं को उनका भी आदर्श घोषित करता है, जो अपने चरित्र-बल से विशिष्टता प्राप्त करते हैं और जिन्हें श्रम में अटूट आस्था है। 'रश्मिरथी' का कर्ण महाभारत काल के कर्ण की तरह अहंकारी और अकर्मण्य नहीं है। मानवीय औदात्य एवं आदर्श उसकी पहचान हैं, जिसका अंतिम लक्ष्य विश्व में मानवतावाद का शंखघोष करना हैं। यहाँ सदियों से चला आ रहा एक चरित्र दिनकर के हाथों अधिक विराट रूप प्राप्त कर लेता है। 'रश्मिरथी' की भूमिका में दिनकर ने कर्ण के चरित्रांकन के विषय में अपनी धारणा इस प्रकार स्पष्ट की है- ''अपने अध्ययन और मनन से मैं कर्ण के चरित्र को जैसा समझ सका हूँ, वह इस काव्य में ठीक से उतर आया है और उसके वर्णन के बहाने मैं अपने समय और समाज के विषय में जो कुछ कहना चाहता था, उसके अवसर भी मुझे यथास्थान मिल गए हैं।[22]

दिनकर की सर्वाधिक चर्चित, प्रसिद्ध और विवादास्पद रचना है 'उर्वशी', जिसका प्रकाशन 1961 में हुआ था। उर्वशी कई मायनों में अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं से भिन्न है। दिनकर का स्वाभाविक आवेग, ओज और आक्रोश यहाँ नहीं है। यहाँ प्रेम की मादक सुगंध और कामाध्यात्म का नया गढ़ा हुआ दर्शन है। आधुनिक मनुष्य की प्रेम और काम की समस्या उर्वशी के केंद्र में है। कालिदास के बाद भारतीय साहित्य में उर्वशी-पुरुरवा के अनेक आख्यान उपलब्ध हुए हैं, किंतु दिनकर की कथा 'विक्रमोर्वशीयम्' से अपनी प्रेरणा और रूपरेखा ग्रहण करती है। उर्वशी में दिनकर ने प्रेम, सौन्दर्य, काम, वासना, भोग व नारी-मनोविज्ञान आदि विषयों पर गहन-गंभीर चिंतन किया है। दरअसल दिनकर के पुरुरवा में प्रेम और काम को लेकर जो ऊहापोह की स्थिति है, वह उसे आधुनिक मनुष्य के अधिक निकट ले आती है। द्वन्द्व और तनाव आधुनिक मनुष्य की सबसे बड़ी पहचान हैं। पुरुरवा इस बात को भली-भाँति जानता है- ''द्वन्द्व शूलते जिसे सत्य ही वह जन अभी मनुज है।'' उर्वशी की भूमिका में दिनकर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''पुरुरवा रूप, रस गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य। .... पुरुरवा में द्वन्द्व है, क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।[23] डॉ. रामविलास शर्मा ने उर्वशी में आधुनिक जीवन के अनेक सवालों की उपस्थिति चिन्हित की है। उनके अनुसार- ''दिनकर जी उदात्त भावनाओं के कवि हैं। उनके

स्वरों में ढलकर उर्वशी की प्राचीन कथा सहज ही रीतिकालीन श्रृंगार-परंपरा से ऊपर उठ गई है। निरालाजी के बाद मुझे किसी वर्तमान कवि की रचना में ऐसा मेघमंद्र स्वर सुनने को नहीं मिला जैसा दिनकर की 'उर्वशी' में। इस काव्य में जीवन संबंधी अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्हें वर्तमान युग का कवि ही प्रस्तुत कर सकता था।[24]

उर्वशी में मूल्य-बोध को लेकर जो सवाल मुक्तिबोध ने उठाए थे, नामवर सिंह भी उनके साथ खड़े रहे हैं, जिन्हें उर्वशी में न तो अपेक्षित मूल्य-बोध दिखाई देता है और न ही भाषा-बोध। डॉ. नामवर सिंह उर्वशी-विवाद पर अपनी दृष्टि स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- ''उर्वशी की आलोचना के प्रसंग में यदि रामविलास शर्मा एक छोर पर हैं और मुक्तिबोध दूसरे छोर पर-तो केवल संयोग की बात नहीं है। अंतर भाषा-बोध का ही नहीं, बल्कि मूल्य-बोध का भी है। एक के लिए जो भाषा उदात्त है, दूसरे के लिए थोथी दार्शनिकता ....संप्रति नई पीढ़ी ने मुक्तिबोध में रचनात्मक संभावना का पुनराविष्कार कर प्रमाणित कर दिया है कि उस टकराहट में मुक्तिबोध की ही दिशा ठीक थी।''[25] दिनकर 'उर्वशी' की रचना को अनुचित बताने वाले आलोचकों का जबर्दस्त प्रहार झेल रहे थे। इस रचना को लेकर उन्हें जीवन के यथार्थ और संघर्ष से पलायन करने का आरोप भी झेलना पड़ा। उनकी 'डायरी' में यह पीड़ा छलक उठी है जिसके अनुसार कुछ लोगों ने 'उर्वशी' काव्य की रचना को अनौचित्यपूर्ण बतलाते हुए यहाँ तक कहा कि इस समय उर्वशी की रचना गद्दारी है। ...उर्वशी नहीं लिखी जानी चाहिए थी।

उर्वशी के पहले अंक में मेनका, सहजन्या और रंभा के संवादों द्वारा रचना की मूल समस्या का उद्घाटन हुआ है। यहाँ स्वर्गलोक के अरूप और मृत्यु-लोक के ऐंद्रिय प्रेम के परत दर परत विश्लेषण के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक दोनों ही पक्षों की एकांगिकता की पड़ताल भी की गई है। 'उर्वशी' में प्रेम का प्रवाह मूलत: दो धाराओं में विभाजित दिखाई देता है। एक तरफ जहाँ अप्सराओं की प्रेम-दृष्टि है, तो दूसरी ओर मानवीय-प्रेम। अप्सराओं के माध्यम से दिनकर ने आधुनिक नारी के उस वर्ग का चरित्रांकन किया है, जो शरीर के बाह्य सौन्दर्य को ही सर्वस्व मानता है तथा जिसकी दृष्टि में मातृत्व की पावनता की अपेक्षा यौवन का इंद्रजाल अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। रम्भा की सबसे बड़ी चिंता यही है-

गर्भभार उर्वशी मानवी के समान ढोएगी?
यह शोभा यह गठन देह की यह प्रकान्ति खोएगी?[26]

किंतु अगले ही क्षण मेनका के माध्यम से दिनकर अपनी नारी-दृष्टि को साफ कर देते हैं-

गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह को खोकर,
पर हो जाती है असीम, कितनी पयस्विनी होकर।
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है,
रूपमती भी सखी! मुझे तो वही त्रिया लगती है।[27]

दूसरे अंक में दिनकर ने पत्नी और परकीया के प्रेम की तुलना बड़े विस्तार से की है। एक ओर जहाँ अप्सरा उर्वशी का विश्वमोहिनी रूप-पाश है, तो दूसरी ओर रानी औशीनरी की अपने पति के प्रति गहरी निष्ठा। औशीनरी की निष्ठा और उसके समर्पण-भाव में कहीं कुंठा और निराशा का संस्पर्श तक नहीं है। तीसरे अंक में उर्वशी के मुख्य विषय का विश्लेषण व विस्तार किया गया है। यहाँ उर्वशी और पुरुरवा देशकाल की सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्व नारी और विश्व नर के प्रतीक बन जाते हैं। दिनकर का मानना है कि प्रेम का आरंभ भौतिकता में होता है और परिणति अध्यात्म में। यहाँ उर्वशी ऐंद्रिय भोग और आध्यात्मिक प्रेम का अपूर्व समन्वय बन गई है। पुरुरवा का अंतिम लक्ष्य कामाध्यात्म के शिखर तक पहुँचना है।

उर्वशी के प्रकाशन के एक वर्ष बाद ही भारत पर चीन ने हमला कर दिया था। भारतीयों के खून से रंजित धरा को देखकर उर्वशीकार का आवेग और आक्रोश एक बार फिर फूट पड़ा। शुद्ध कविता की खोज करने वाले दिनकर ने अपने त्यागे हुए अस्त्रों की ओर एक बार फिर देखा और उन्हें उठाकर रणभूमि में एक बार फिर उतर गए। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा- ''रक्त स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिंदा किया जा सकता है, जो पार्सल से आया हुआ था।''[28] चीनी आक्रमण का पूरा क्रोध दिनकर ने कविताओं में उड़ेलना शुरू किया और जनवरी 1963 में 'परशुराम की प्रतीक्षा' पूरी हुई। दिनकर इस कविता में बार-बार इस बात को दोहराते हैं कि देश से बहुत बड़ी चूक हुई है। इस चूक के लिए वे तत्कालीन शासन-व्यवस्था को सीधे तौर पर जिम्मेदार ठहराते हैं। विश्व-शांति की बात करते-करते देश को इतने बड़े नरसंहार का घाव मिला, यह दिनकर की दृष्टि में देश के स्वाभिमान पर चोट थी। उनकी आस्था गाँधीवाद में भी कम नहीं थी, किंतु गाँधीवादी हथियार पिशाचों के लिए कारगर नहीं हो सकते थे, दिनकर यह भली-भाँति जानते थे। इसीलिए उनका यह आक्रोश उन पर भी फूट पड़ता है, जो केवल सत्य, अहिंसा और शांति की बात करते हैं-

हैं खड़े हिंस्र वृक व्याघ्र, खड़ा पशुबल है,
ऊँची मनुष्यता का पथ नहीं सरल है,
ये हिंस्र साधु पर भी न तरस खाते हैं,
कंठी माला के सहित चबा जाते हैं,
जो वीर काटकर इन्हें पार जाएगा,
उत्तुंग शृंग पर वही पहुँच पाएगा।[29]

1962 के युद्ध में मिली शर्मनाक पराजय से दिनकर का तिलमिलाया हुआ स्वाभिमान भारतीय इतिहास और संस्कृति को पूरी तरह खंगालकर उस परशुराम की तलाश करता है जो मूलत: एक ऋषि थे। यज्ञ-अनुष्ठान करते समय वे हाथ में कुश (एक पवित्र घास) धारण करते थे, जो कभी-कभी शाप के काम भी आती थी। दिनकर के लिए परशुराम इतने महत्त्वपूर्ण और ग्राह्य इसलिए हो जाते हैं कि वे अन्य ऋषियों की तरह केवल साधक ही नहीं हैं, वे असाधारण पराक्रमी योद्धा भी हैं, जो फरशा और धनुष भी धारण करते हैं। वस्तुत: दिनकर के परशुराम पराक्रम और अध्यात्म-चिंतन के समन्वित रूप हैं, जिनकी आवश्यकता का अनुभव पूरा राष्ट्र कर रहा था-

है एक हाथ में परशु एक में कुश है,
आ रहा नए भारत का भाग्य पुरुष है।[30]

दिनकर देशकाल के प्रति अत्यंत गंभीर और सचेत साहित्यकार हैं। जो समस्याएँ आधुनिक मनुष्य को सबसे अधिक प्रभावित करती हैं, दिनकर एक सजग साहित्यकार का दायित्व निभाते हुए उनसे टकराते हैं और उस टकराहट की गूँज उनके साहित्य का मूल स्वर बन जाती है। एक भेंटवार्ता में गोपालकृष्ण कौल के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए दिनकर ने देश और समाज के प्रति साहित्य के सरोकार को स्पष्ट करते हुए कहा था- ''पिछले युग की देन आध्यात्मिकता थी, विज्ञान नए युग की उपलब्धि है और ये दोनों तत्त्व परम मूल्यवान हैं। लेकिन साहित्य ने यदि पक्षपात किया तो आदमी और भी अधिक हानि में पड़ेगा। उसका धर्म है कि अध्यात्म और विज्ञान के बीच वह सेतु बनकर पड़ा रहे, जिस पर चढ़कर धर्मार्थी विज्ञान का और वैज्ञानिक अध्यात्म का स्पर्श कर सकें।''[31] अपनी पुस्तक 'आधुनिक बोध' में वे कहते हैं- ''हम आधुनिकता की ताकत और प्राचीनता के संतोष भाव को मिलाना चाहते हैं। राममोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक भारत के जो भी महान विचारक हुए हैं, उनकी कल्पना यह थी कि भारत को अपनी संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ अंश को भी बचाना है और पाश्चात्य संस्कृति के भी सर्वोत्तम भाग को स्वीकार करना है। भारत की विशेषता अध्यात्म है और पाश्चात्य जगत की विशेषता विज्ञान है। हम इन्हीं दो तत्त्वों का समन्वय करना चाहते हैं- एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान/लेकर उठने वाला है धरती पर हिंदुस्तान।[32]

दिनकर के कवित्व का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास' में लिखा है- ''दिनकर व्यक्तिवादी दृष्टि का प्रत्याख्यान लेकर साहित्य मंच पर आए। वे छायावादियों और प्रगतिवादियों के बीच की कड़ी हैं, कम छायावादी, अधिक प्रगतिवादी। ....जब छायावाद के प्रथम उन्मेष के कवियों के बाद दूसरे उन्मेष के कवि आए, तो उनके सामने मानवतावाद का आदर्श अस्पष्ट रह गया था। दिनकर में वह आदर्श पूरे जोर पर है। इसीलिए उनके काव्य का आकर्षण शिथिल नहीं है। आरंभ से लेकर अंत तक उनका विकास एकरस और गतिशील है।[33]

समग्रत: दिनकर एक ऐसे कवि हैं जिनका समूचा रचना-संसार परंपरा और आधुनिकता के मेल से सृजित हुआ है। वे जहाँ अध्यात्म को भारत की मूल शक्ति के रूप में देखते हैं वहीं विज्ञान को वे इस देश के लिए अनुकरणीय धर्म मानते हैं। वे आधुनिक भारत का निर्माण इन्हीं दोनों के संतुलित समन्वय के द्वारा करने के आकांक्षी हैं। वे सही अर्थों में मानवतावादी कवि हैं। दिनकर के काव्य में प्रगतिशीलता का कहीं भी अभाव नहीं है, फिर भी उन्हें प्रगतिशील आलोचकों की उपेक्षा का शिकार बनना पड़ा। लहदी जगत में उन्हें राष्ट्रकवि मात्र कह कर कविता की मुख्यधारा से विलगा दिया गया और आलोचकों के द्वारा छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के समानांतर चलने वाली राष्ट्रीय धारा के कवियों में दिनकर को खड़ा कर दिया गया। ऐसा करना उनका अवमूल्यन करने जैसा था। आज दिनकर के काव्य को एक बार फिर से पढ़ने और उनके विषय में नए सिरे से पूर्वाग्रह मुक्त होकर विचार करने की आवश्यकता है।

संदर्भ:

1. नंदकिशोर नवल , दिनकर रचनावली, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011, खंड-3, पृष्ठ-79।
2. वही, खंड-2, पृष्ठ-284
3. वही, खंड-5, पृष्ठ-31
4. वही, खंड-3, पृष्ठ-20
5. वही, खंड-1, पृष्ठ-79
6. वही, खंड-1, पृष्ठ-70
7. वही, खंड-1, पृष्ठ-83
8. वही, खंड-1, पृष्ठ-83
9. वही, खंड-1, पृष्ठ-10
10. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरिएंटल ब्लैकस्वान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ-135

11. दिनकर रचनावली, खंड-1, पृष्ठ-155
12. वही, खंड-5, पृष्ठ-77
13. वही, खंड-5, पृष्ठ-55
14. वही, खंड-5, पृष्ठ-70
15. वही, खंड-5, पृष्ठ-81
16. वही, खंड-5, पृष्ठ-134
17. वही, खंड-5, पृष्ठ-72
18. रश्मिरथी की भूमिका, दिनकर रचनावली, खंड-5, पृष्ठ-173
19. दिनकर रचनावली, खंड-5, पृष्ठ-193
20. वही, खंड-5, पृष्ठ-189
21. वही, खंड-5, पृष्ठ-228
22. वही, खंड-5, पृष्ठ-173
23. उर्वशी की भूमिका, दिनकर रचनावली, खंड-5, पृष्ठ-331
24. नामवर सिंह, मूल्यों का टकराव : उर्वशी-विवाद, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रका0, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ-69
25. वही, पृष्ठ-71
26. दिनकर रचनावली, खंड-5, पृष्ठ-354
27. वही, खंड-5, पृष्ठ-355
28. वही, खंड-13, पृष्ठ-211
29. वही, खंड-1, पृष्ठ-368
30. वही, खंड-1, पृष्ठ-363
31. सावित्री सिन्हा सं0, दिनकर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृष्ठ- 35
32. रामधारी सिंह दिनकर, आधुनिक बोध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ -37
33. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ- 251

◆◆◆

(Continued from Page No. 17) **Impact of Banking Performance on..............**

Table 7.2 Chart of Major Suggestions

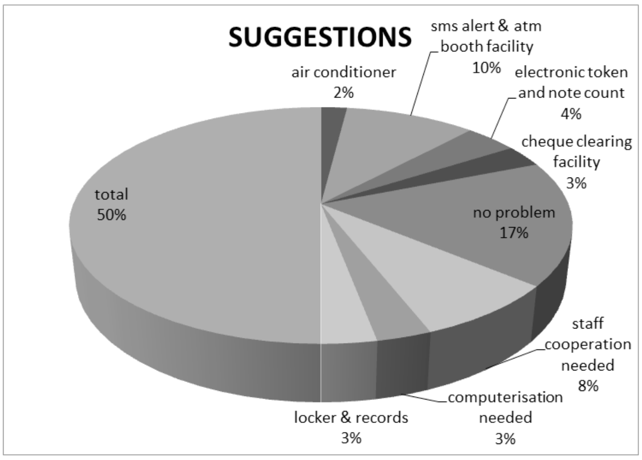

Conclusion:

In this study is was observed that progress of the GBA has improved post-merger specially after computerization and CBS system started in 2011. Even though the number of staff in each branch is inappropriate in comparison to savings and current accounts opened in respective branches then too the customer were satisfied with the co-operation and help provided by bank officials. ATM and SMS facilities and computerization are the basic requirement of the account holders. Overall it could be concluded that the performance of the bank and its impact on rural and urban areas has increased over time and it is stiff striving for providing and enhancing its facilities for the satisfaction of the customers.

References:

1. Tapan, Neeta (2008). Micro Credit, SHGs and Women Empowerment. New Delhi, India: New Centuary Publication.
2. Dwivedi, Amit Kumar (2012). Rural Development in Post-Colonial Era. New Delhi: Bookwell Publication.
3. Sukhwal, Anita (2012). Rural Entrepreneurship Development in Liberalised Era. New Delhi: Bookwell Publication.
4. Kumar Satish (2017). Performance Evaluation of Regional Rural Banks RRBs in India. International Journal of Management, IT & Engineering Vol. 7 Issue 4
5. Madan Sweety (2014). Financial Performance of Regional Rural Banks in India For Post-Merger Period: An Analytical study. International Research Journal of Social Science and Management Volume 4, Number 2, pp. 176-183
6. Baligatti Dr. Y. G. (2016). Performance Evaluation of Regional Rural Banks in India. International Journal of Multifaceted and Multilingual Studies Volume-III, Issue-IV, pp. 1-10
7. Ibrahim Dr. M.Syed (Oct 2010). Performance Evaluation of Regional Rural Banks. International business research Volume 3, Number 4, pp. 203-211
8. Khusro A.M. (1987): Report of the Committee on Agricultural Credit Review Committee. New Delhi: Government of India.
9. Narasimham Mr. (1991): Report of the Committee on the Financial System. New Delhi: Government of India.
10. Bhandari M.C. (1994): Report of the Committee on Restructuring of RRBs. New Delhi: Government of India.
11. Reserve Bank of India (2000-01 to 2015-16). Report on Trend and Progress of Banking of India. New Delhi: Reserve Bank of India.

◆◆◆